बाकड़ी

कविता

कहानी

बावड़ी

कविता

बावड़ी

सीढ़ी दर सीढ़ी उतरती मैं हाँफती हूँ। दिन में भी ऐसा घुप्प अँधेरा कि उँगलियों को उँगलियाँ न दिखाई दें... कब तक, आखिर कब तक चलती रहूँगी इस तरह... किस सफर में हूँ मैं कि दहशत है - रगो रेशे में। अब आखिर कहाँ जाना है... कितना भीतर... कि अंत क्यों नहीं आता आखिर। कैसी तलाश है यह किसकी तलाश है आखिर...?

कौन सा सपना है यह जो हर रात मेरी नींद में बदस्तूर जागता है, खँगाल कर ले आता है मेरे भीतर का वह कुछ जो कि मुझे पता ही नहीं, कि है भी मेरे भीतर। पानी... पानी चाहिए मुझे। पर पानी न जाने कहाँ विलुप्त... कई दृश्य भय बन कर काँप उठते हैं मेरे रोम-रोम से जैसे मेरा भय बह निकला हो। आत्मा सूखी डिहाईड्रेड... मैं खुद जैसे निचुड़ी जा रही हूँ।

अनी अन्वी! मेरी आवाज किसी भूत बँगले की तरह गूँजती है उस सन्नाटे में... लौट आती है फिर मेरे ही पास। मैं दौड़ रही हूँ। हलक सूख रही है जीभ लटपटाई हुई, कि तभी अनी कहती है मुझे झकझोर कर - मम्मा पानी चाहिए? इसी टेबल पर तो है पानी। आप ही ने तो सोते वक्त रखा था। मैं उसे गले से लगा लेती हूँ। मेरी प्यास बुझ गई हो जैसे।

अनी की आँखें भी ठीक उसी की तरह हैं वाचाल, बातूनी। उसकी एक-एक चमक में हजारों किस्से। किस्सों में भी कितने किस्सेतर अफसाने... वह ठीक मेरे उलट है, यह अम्मा कहती है... यह सब कहते हैं। अन्वी कहीं ठहरती नहीं, टिकती नहीं... कभी भी, किसी हाल में, किसी के भी कहने से मुझे भी पसंद है यह। मैं उसको इसी तरह निडर बनाए रखना चाहती हूँ और उसे इसी तरह बनाए रखने के इसी उपक्रम में न जाने कितने डर, कितना संशय, कितनी अनाम पीड़ाएँ... यह शायद माँ हो कर ही समझा जा सकता है।

वे कहते हैं अक्सर, हद करती हो तुम भी। बेटी आँखों से ओझल नहीं हुई कि... उसे जीने दो उसका बचपन। इस तरह तो... सोचती हूँ मैं भी, इस तरह तो... जानती हूँ मैं भी इस तरह तो...

पर चारा कोई और नहीं हैं मेरे पास। मेरा भय दुःस्वप्न बन कर पीछा करता रहता है हमेशा। धुर जाड़े की रातों में पसीने से नहाई हुई उठती हूँ मैं और जानलेवा गर्मी में भी भय से थरथराती हुई। साँसें धीरे-धीरे थिर होती हैं। बगल में सोई अनी को नींद में मुस्कराते देख कर, कभी अपने गले में उसे गलबहियाँ डाले सोई जान कर, मैं अपनी बाँहें उसके इर्द-गिर्द कस कर लपेट लेती हूँ, इतना कस कर कि नींद में भी कई बार

कसमसा उठती है वह। ...मुझे लगता है कि अब सुरक्षित है वह... कि अब कोई डर नहीं। फिर भी नींद है कि आते-आते आती है और स्वप्न है कि जाते-जाते भी नहीं जाता।

मेरा पाँव अँधेरे में किसी ठोस चीज से टकराया है। चीख निकलती है बहुत तेज, पर जैसे गले में ही रुँध जाती है। सबकुछ बिल्कुल उसी सपने जैसा। मेरी साँस-साँस रो रही है। मेरा रोम-रोम जैसे किसी अज्ञात पीड़ा से लिथड़ा हुआ। तलगृह में जैसे और अँधेरा हो आया हो, घना घनघोर, घुप्प अँधेरा। अब अपना ही भान कहाँ रह गया है। अन्वी, अनी, मेरी प्यारी अनी... मैं अँधेरे में टटोलती-टोहती जब किसी भी ज्ञात-अज्ञात वस्तु से टकराती हूँ भीतर तक सिहर उठती हूँ। सिहरना सुकून बनता है पर थोड़ा ठहर कर। कुछ नहीं, कुछ भी नही, कुछ भी तो नहीं। सुकून आता है और फिर बिला जाता है। कहाँ हैं कहाँ है मेरी बिटिया अनी... मैं हमेशा की तरह उस सपने की गिरफ्त में हूँ। और हमेशा की तरह ही सोचना चाहती हूँ, समझाना चाहती हूँ खुद को, बेकार ही डरती हूँ मैं। ऐसा कभी कुछ नहीं हो सकता उसके साथ...

...बच्ची जरूर है अनी पर समझदार भी है। उसे बनाया है मैंने समझदार। मैं कहती रहती हूँ उससे, बेटा कोई भी अगर प्यार करते-करते टच करना चाहे तो मत करने देना। किसी को किस्सू भी मत करने देना चेहरे पर, लिप्स पर तो कभी नहीं... डाँट देना उसे... समझीं आप? मैं जोड़ती हूँ मम्मा, पापा और अपने परिवार के लोगों को छोड़ कर। फिर कहते-कहते ठिठकती हूँ इस 'परिवार' शब्द पर। नहीं, सिर्फ मम्मा-पापा। वह चुप सुनती रहती है सब हमेशा के बिल्कुल विपरीत... बेटा, मैं आपको कुछ बता रही हूँ न सुन रही हैं न आप? हाँ, माँ... वह अपनी चंचल नजरों से थाहती रहती है आस पास... कुछ अनोखा, कुछ अलग-सा, नटखट-सा करने, हो सकने की संभावना की तलाश में... मुझे लगता है मेरी बातें तो बस यूँ ही... बेटा पहले मेरी बात पर ध्यान दीजिए। सुनिए प्लीज... सुन तो रही हूँ मम्मा ... वह खीज भरे स्वरों में कहती है... इतने-इतने खिलौनों के बीच माँ की ये बेकार की बातें, नसीहतें।

पहली बार मन तभी हिला था क्षण भर को, जब तीन-साढ़े तीन की ही थी वह। टाउनशिप की अपनी सुविधाएँ... क्लब, जिम, किड्स रूम, लायब्रेरी... मैं शाम को थोड़ा वक्त निकाल लेती हूँ... अन्वी खेलती रहती है किड्स रूम में। मैं थोड़ा पढ़ लेती हूँ... पर पढ़ते-पढ़ते साँस अटकी होती है, बस अनी में। उठ-उठ कर झाँक आती हूँ। वह खेलने में मग्न होती है, दूसरे बच्चों के साथ। अन्वी को किड्स रूम का आकर्षण खींचता है। उसकी आँखों की चमक में दिखलाई देते हैं मुझे - 'सी-सॉ', 'स्लाइड्स', 'रोप्स' और झूले। उसके हाथों की लहक में होती है नन्हें चेस, टेबल टेनिस, कैरम, पजल्स और लूडो से खेलने की ललक। चीजों को हासिल करने की नन्हीं कोशिशें भी। वह दूसरे बच्चों से कभी-कभी लड़ती भी है। कभी-कभी रोती-रोती आती है मेरे पास... माँ गुल्लू ने मुझ से पिंग-पाँग छीन लिया... एंजल मुझे स्लाइड्स पर फिसलने नहीं देती। मैं झगड़े को सुलझाने की कोशिश में कभी कामयाब होती हूँ, कभी नाकामयाब। मैंने एक तरकीब निकाली है। किड्स रूम खुलते-खुलते ही मैं अनी को ले कर पहुँच जाती हूँ कि दूसरा कोई इतनी जल्दी कहाँ आ

पाएगा। अनी खुश रहे, इन्ज्वाय करे, बस। और अनी भी शाम होते ही पूछती है, मम्मा लायब्रेरी नहीं जाना? मैं मुस्करा कर कहती हूँ, जाना है मेरी बच्ची।

...जल्दी-जल्दी पहुँचने की यही ललक उस दिन थिराती है, डर बन कर बैठ जाती है मेरे भीतर और तभी शुरू होती है अंतहीन दुःस्वप्नों की यह श्रृंखला। मैं पढ़ रही हूँ आदतन, डूब कर, भूल कर सबकुछ... अन्वी नहीं आती देर तक। मैं सोचती हूँ खेल रही होगी वह। इस बियाबान में यही तो एक जगह है जहाँ कुछ ताजी पत्रिकाओं का चेहरा देख पाती हूँ। फिर थोड़ी देर को ही सही, अन्वी से अलग हो कर अपना कुछ लिख-पढ़ पाना। अन्वी नहीं आई है मेरे पास देर से, पर मुझे सुकून ही है। तभी, लिखते-लिखते थमती हूँ मैं। मेरे भीतर जैसे कुछ कौंधा हो। चौंकती हूँ मैं, मैं तेज कदमों से निकलती हूँ। बस चार कदमों की दूरी पर है किड्स रूम। पर मुझे लगता है न जाने कितनी दूर है वह... यह दरवाजा क्यों भिड़ा रखा है अनी ने... अनी बेटा, दरवाजा क्यों बंद किया, खोलो... अनी कुछ बोलती नहीं। मैं सहमी सी अनी को जल्दी से अपनी गोद में समेट लेती हूँ... 'संजय तुम? तुम यहाँ क्या कर रहे थे दरवाजा क्यों बंद था...'

'अंदर ठंडी हवा आ रही थी...'

'तो...?' मेरी आवाज तल्ख है।

'और बगल के कमरे में पार्टी चल रही है। बच्चे आ कर सारा सामान तितर-बितर कर देते हैं...' मेरी आवाज अब भी सम पर नहीं है... 'तो? ठीक करो। बच्चे तो खेलेंगे ही न तुम्हारा काम है ठीक करना।'

उसका सहमापन मेरी आवाज के तीखेपन को कुछ और कड़वाता है। क्षण भर को सोचती हूँ मैं, शायद ठीक कह रहा है यह तभी तो इतना... पर भीतर से आती दूसरी आवाज जैसे मेरे भय में और पलीता लगा देती है। सहमता वह है जिसके भीतर कुछ गलत हो। वह पीठ फेर लेता है सामान ठीक करने के उपक्रम में लग जाता है। मैं निकलते-निकलते भी कहती हूँ... 'देखो आगे से कभी कोई बच्चा खेलता हो तो दरवाजा बंद नहीं होना चाहिए...' मैं अनी को लिए-लिए लायब्रेरी से अपना बैग उठाती हूँ और... मैं घर नहीं जाती, नीचे लॉन में लगे झूले पर आ बैठती हूँ। अन्वी बहुत सहमी सी है। क्यों... मेरा भय या कि माँ का यह रौद्र रूप देख कर... मै टटोलना चाहती हूँ उसे... पर कैसे? मै पूछती हूँ - 'बेटा वो अंकल वहाँ क्या कर रहे थे?' अनि कुछ भी नहीं कहती...

मैं फिर उससे पूछती हूँ... 'बैठे हुए थे? खेल रहे थे आपके साथ...? ट्वायज से या फिर...'

अनि छोटा सा उत्तर देती है - 'नहीं।'